डाउनलोड मुद्रण

अ+ अ-

निबंध

आड़ू का पेड़

रमेश चंद्र शाह

आज अचानक पता चला, मैं आदमी नहीं, पेड़ हूँ। और पेड़ भी कैसा? जो 'सर्द हवाओं से घिरा' है। 'बाहर से सूखा और भीतर से हरा' है।

पढ़कर मैं सोच में पड़ गया। कन्या महाविद्यालय में मैं अकेला ही पुरुष प्राध्यापक होता, तो भी एक बात थी। दर्जन से कम क्या होंगे! फिर मुझी को इस खिताब के लिए क्यों छाँटा गया होगा?

घर को लौटते हुए रास्ते-भर में इस खिताब से ही घिरा रहा। इसका क्या अर्थ है? मेरे व्यक्तित्व का यह कैसा मूल्यांकन है। जो कहता है, मुझे समझो - मुझे यूँ ही मत उड़ा दो। मुझे समझो और सिर धुनो।

क्या मैं अभी तक सिर धुन रहा हूँ?

महीनों में मार्गशीर्ष, स्थावरों में हिमालय, नदियों में गंगा... और पेड़ों में आड़ू का पेड़। भगवान ने नहीं गिनाया तो क्या हुआ? मैं गिनाऊँगा। हाँ, मैं पेड़ों में आड़ू का पेड़ हूँ।

दुनिया में एक से एक सुंदर पेड़ हैं। चीड़ है, देवदारु है, बरगद है, नीम है... क्या-क्या नहीं है? भगवान ने भी शायद पीपल को पसंद किया है। अगर पेड़ों में ही चुनना हो तो आड़ू के पेड़ को चुनने वाला खब्ती ही कहलाएगा। तो क्या सचमुच मैं खब्ती हूँ? यदि कोई मुझसे पूछे, आड़ू का पेड़ कैसा होता है... उसका वानस्पतिक वर्णन करो - तो मैं शायद ही कुछ बता पाऊँ। बहुत संभव है, आड़ू का पेड़ देखे भी मुझे पचीस-तीस साल गुजर गए होंगे। मैं रेगिस्तान में नहीं रहता, महानगर में भी नहीं। जिस बस्ती में डेरा डाले हूँ, उसके आदमियों से कहीं ज्यादा मेरी पेड़ों से पहचान है। सबके नाम पूछ लीजिए - आँखें बंद करके प्रत्येक का रूप-रंग, चेहरा-मोहरा सब बता दूँगा। मगर आड़ू? वह तो यहाँ होता भी नहीं पहाड़ों में होता है और वहाँ भी ऐसा नहीं कि चट से दिखाई दे जाए। मैं पहाड़ में भी नगर का और नगर में भी बाजार का आड़ू का पेड़ क्या मेरी तरह बाजारू है जो कहीं भी दिख जाएगा?

पता नहीं वह वहाँ क्यों था। वह आड़ू का पेड़ आसपास और दूर-दूर तक मकान ही मकान, छतें ही छतें... सामने कोई मील-भर की उड़ान के पार आसमान में सीधा खड़ा विशालकाय पर्वत और उसके पूरे शरीर पर रचा हुआ जंगल! हजारों-लाखों पेड़! पर वह तो जंगल ही था और उतनी दूर से वह न तो आँखों में लहरा सकता था, न कानों में सरसरा सकता था। मूर्त होकर भी अमूर्त जैसा ही था वह!

मगर यहाँ हमारी बस्ती में - जहाँ जंगल तो क्या, पेड़ के होने की भी कोई संभावना नहीं थी - हमारे आँगन के ठीक सामने सँकरी गली के पार एक ऊँची-सी जगह में वह डेरा डाले पड़ा था। उसे किसने वहाँ रोपा होगा? सुबह-सुबह आँगन में आते ही सबसे पहले उसी से मुलाकात होती। नली के बीचों-बीच गली जहाँ मुड़ती थी उस मोड़ के बहाने ही मानो एक तिकोना कोना हथिया कर उस पर दीवाल उठा के किसी ने मिट्टी डाली होगी - उसका आधार बनाया होगा। कितनी जरा-सी थी वह जमीन! बचपन की छोटी-से-छोटी चीज भी लेकिन कल्पना में कितनी बड़ी दीखती है! वह मकान तो अब रहा नहीं - तिमंजिला मकान, जिसकी हर कोठरी मेरे भीतर तिगुनी नहीं तो कम-से-कम दुगुनी तो जरूर होगी मगर वह जमीन - जिस पर वह आड़ू का पेड़ खड़ा था - मुझे उतनी-की-उतनी दिखाई देती है। उतनी-सी जमीन में सिवा आड़ू के पेड़ के और उग भी क्या सकता था! मगर गजब की किसानी थी हमारी नानी में! यह चमत्कार उसी के बूते का था कि उसी छोटे-से त्रिभुज में वह भुट्टे, ककड़ी, कद्दू, लौकी - जाने क्या-क्या उगा डालती थी। बेचारा आड़ू का पेड़ यह सब भी झेलता। एक खासे लता-मंडप को गले से लगाये उन पर अपनी बाँहें फैलाये, वह उन्हें भी फलने-फूलने देता। बल्कि इन घुसपैठियों की वंश-बेल को लहलहाते देख, वह मानव उन्हीं का हौसला बढ़ाने को खुद भी फलने-फूलने लगता। नहीं! उसके खुद के फल तो तब तक कभी के विदा ले चुके होते। बरसात से पहले-पहले ही। बस, पत्ते-ही-पत्ते रहते - गहरे हरे गझिन-पत्ते - और वे भी बस कुछ ही महीनों के मेहमान। दीवाली गुजरते-न-गुजरते वे भी उसे छोड़ जाते। रह जाता केवल एक नंगा काला ठूँठ...

यूँ पेड़ खासा जवान था। जवानी बड़ी नियामत है। अंग्रेज कवि कॉलरिज की एक बड़ी मार्मिक कविता है - जिसमें एक जगह वह कहता है :

'जिन दिनों मैं जवान था, उम्मीद मुझ पर चारों ओर से बेल की तरह लिपटी रहती थी और उस बेल पर उगनेवाले फल और फूल भी मुझे बेल के नहीं, खुद अपने ही लगते थे...।

यह कवि अनाथ था। उसके सहपाठी चार्ल्सलैंब ने अपनी एक अविस्मरणीय रचना में उसकी बाल-मूर्ति का आवाहन और स्तवन करते हुए उसे प्रेरणा-दीप्त 'चैरिटीब्वॉय' कहा है। हमारे तुलसीदास की तरह इस महान कवि का बचपन भी भीख पर ही पला था। पर जवानी तो जवानी ही है। तिस पर कवि होना - और कवि भी ऐसा, जो एक पूरी शताब्दी के बंजर को फोड़ कर उसे गंगा-जमुना का मैदान बना दे, - जहाँ पहले रेत थी, वहाँ लहलहाती फसलें खड़ी कर दे। ऐसा था यह कवि, जिसे जवानी के बस कुछ ही गिने-चुने बरसों की मोहलत मिली थी - कविता का जादू दिखाने की मोहलत - और फिर जाने कैसे एक दूसरा रेगिस्तान खुद उसके भीतर से निकल कर उस पर हावी हो गया था। कविता का जादूगर अपनी वाग्देवी से बिछुड़कर दार्शनिकता के मरुस्थल में भटक गया था वह भी भरी जवानी में। क्या पैंतीस साल की उम्र-भरी जवानी नहीं कहलायेगी? क्या एक कवि की जवानी हॉकी-फुटबाल के खिलाड़ियों की जवानी है जो तीस पार करते-न-करते किसी काम की नहीं रह जाती? क्या हमारे ही यहाँ, मसलन, निराला की कविता ने चालीस और पचास के बाद भी - उम्र के हर दशक में नये कल्ले नहीं फोड़े थे? क्या यह वंध्या का गीत है?

'अभी न होगा मेरा अंत

अभी-अभी ही तो आया है मेरे वन में मधुर बसंत...'

वंध्या का गीत तो निराला की वह कविता भी नहीं है... 'स्नेह-निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है।' जिस उदासी को गीत बना दिया जा सके, वह उदासी बाँझ कैसे हो सकती है? पर होती है, एक उदासी ऐसी भी होती है जो बाँझपन से प्रेरित और बाँझपन में ही परिणत होती है। क्या उसे एक तरह का आत्मावसाद कहा जा सकता है? कॉलरिज की ही एक दूसरी कविता है - 'डिजेक्शन' - जो मानो उसके कवि का ही समाधि-लेख है। अपने ही कवित्व का फातिहा पढ़ती हुई कविता मुझे दुनिया की सबसे उदास कविता लगती है। सब-कुछ झेल सकती है एक कवि की जान - उपेक्षा, अपमान, गरीबी, जहालत, उपहास और नासमझी - सब-कुछ पचा सकती है - बशर्ते उसका कवित्व जिंदाबाद रहे बशर्ते उसकी वाग्देवी ही उससे विदा न ले ले। बशर्ते वह अपने ही कवित्व का जिंदा भूत बनकर धरती पर मँडराने को अभिशप्त न बने।

क्योंकि कवि कविता करना भले छोड़ दे, कविता कवि को नहीं छोड़ती, अपना कवित्व खो चुका कवि स्वयं को ही एक भुतहे घर की तरह लगने लगता है : इस प्रेतबाधा से कहीं छुटकारा नहीं है : न किताबों में, न दर्शन में, न धर्म-अध्यात्म में, न राजनीति में। एक निष्ठुर और दारुण प्रेयसी की तरह है कविता - संपूर्ण समर्पण माँगती हुई। कवि से कवि होने और कवि न रह पाने का वह पूरा मुआवजा वसूल करती है।

आड़ू का पेड़, पता नहीं कितना पुराना था। पर जिस पेड़ को मैं पहचानता हूँ वह तो मेरा समवयस्क था। वही तो मेरा उन दिनों घनिष्ठतम मित्र था। और बाकी सबसे मेरा झगड़ा होता रहता था। कभी न झगड़ने वाला मेरा चिर नवीन साथी तो सिर्फ एक था और वह था आड़ू का पेड़। एक से एक नये और रंग-बिरंगे पक्षी उनका आतिथ्य ग्रहण करते। मुझे लगता, वह मेरे ही लिए उन सबको जुटाता है। वे भी मेरे दोस्त बन जाते। बस्ती का वह इकलौता पेड़ अपने-आप में एक बस्ती था - उतना ही रंगीन, जिंदादिल और शाह खर्च। छोटा-सा पेड़... मुझे लगता, वह और भी छोटा होता अगर उसके ठीक पीछे बड़ा-सा मकान नहीं होता। पूरब की धूप जो सुबह-सुबह एक बाढ़ की तरह उमड़कर पूरी बस्ती पर छा जाती, उसके पेड़ को नहीं छूती - वही मकान आड़े आ जाता। शायद उसी से बदला लेने को उसने अपने हाथ ऊँचे कर दिये थे। जब मैं ग्यारह बजे स्कूल से लौटता तब तक उसके वे बड़े हुए हाथ अपना करिश्मा दिखा देते। मानो उस मकान को मुँह चिढ़ाती उसकी एक-एक पत्ती धूप से नहा उठती। मुझे उस मकान पर बहुत गुस्सा आता जिसने मेरे दोस्त के हिस्से की धूप छीन ली थी। उसकी बैठक का छज्जा पेड़ से ही लगा हुआ था। मेरी समझ में नहीं आता, वह छज्जा मेरा क्यों नहीं है जहाँ से मैं हाथ बढ़ाकर अपने मित्र को छू सकता। इस ठगी से बदला लेने को मैं अक्सर छुट्टी के दिन दोपहर को उस डाली पर ही जम जाता जहाँ से वह बैठा मुझे पूरी-की-पूरी भीतर से दीख जाती। वकील साहब की बैठक उस वक्त पूरी तरह सुनसान होती। पर उसकी सारी मेज कुर्सियाँ, बढ़िया जिल्दवाली किताबों की अलमारी और बढ़िया कालीन-बिछा तख्त... सब-कुछ मेरा, सिर्फ मेरा हो जाता। उस हरी डाल पर बैठा मैं उस सारे ऐश्वर्य का मालिक होता।

मेरे पिता एक दिन मुझे कल्पवृक्ष दिखाने ले गए। शहर से कोई दो मील की दूरी पर एक छोटे-से गाँव की सरहद पर, झरने के पास वह वृक्ष था। मैं गया तो बड़े उत्साह में था पर वहाँ जो देखने में आया, उससे मुझे घोर निराशा हुई। चिथड़ों से भरा एक सूखा-सा बेडौल कंकाल - जिसे पेड़ कहना ही मुश्किल था। पिताजी ने मुझे बताया, इसकी बाकायदा पूजा होती है। लोग वहाँ जाते हैं और अपनी मन्नतों के रंगीन चिथड़े वहाँ पर बाँध आते हैं। पास में ही एक जीर्ण-शीर्ण शिवालय भी था। मुझे लगा, पिताजी कहते हैं इसलिए कल्पवृक्ष होता तो जरूर होगा। पर यह तो वह नहीं ही हो सकता। तब सहसा मेरे भीतर कौंध गया कि कल्पवृक्ष को तो मैं कब से जानता हूँ और वह तो मेरे आँगन में ही है। मैंने खुशी से लगभग चीखते हुए कहा - 'बाबूजी, यह कल्पवृक्ष नहीं है। कल्पवृक्ष तो वह आड़ू का

पेड़ है जो हमारे ननिहाल में लगा हुआ है।' बाबूजी मुस्कराकर रह गए। मेरे रहस्य में उनका बिल्कुल भी साझा नहीं है, यह मुझे तत्काल लगा और मुझे इस पर खासी हैरानी भी हुई। इसलिए कि हमारे अपने घर में तो कोई पेड़-पौधे नहीं थे - मगर पिता को अपने काम के सिलसिले में हर हफ्ते बस्ती के बाहर जंगलों में जाना पड़ता और कभी-कभार वे मुझे भी साथ ले जाते। मैं देखता कि जंगल आते ही पिताजी एकदम मस्त-से हो जाते। पेड़ों के बारे में वे मुझसे इस तरह बातचीत करते जैसे मुझे भी उन्हीं के बराबर जानकारी हो। और जैसे पेड़ों के बारे में बात करना बेहद जरूरी हो। मेरी समझ में नहीं आता था कि जब उन्हें पेड़ों से इतना लगाव है तो उन्होंने पेड़ों के बीच ही घर क्यों नहीं बनाया। वह तो दूर रहा, घर में भी एक पेड़ नहीं लगाया। यह बात तब कैसे सूझती कि जिस घर में आदमियों तक के रहने को जगह काफी नहीं, वहाँ पेड़ कैसे उग सकते हैं !

पतझड़ का मौसम मुझे सबसे उदास मौसम लगता। दीवाली के कुछ ही दिन बाद मैं देखता, मेरे दोस्त को कुछ हो रहा है। वह अपने में ही डूबा दीखता और मुझसे बोलना बंद कर देता। हवा के हर झोंके को वह अपने कुछ पत्ते दे देता। मुझे हवा पर गुस्सा आता जो उसे नंगा ही कर देने पर उतारू जान पड़ती थी। धीरे-धीरे मैंने इसकी व्याख्या भी ढूँढ़ ही निकाली। पेड़ तपस्या करने जा रहा है। तपस्या से उसका कायाकल्प होगा। कल्पवृक्ष यदि अपना ही कायाकल्प नहीं करेगा, तो औरों को क्या देगा? और जब उसे नया चोला धारण करना ही है तो पुराना छूटेगा कि नहीं? इसलिए यह पतझड़...

पूरे एक महीने वह पत्ते गिराता रहता। मुझे उसका वह दिगंबर रूप पता नहीं क्यों, याद नहीं आता। मेरी आँखों में उसकी दो ही मुद्राएँ प्रकट हो पाती है। मुद्राएँ क्या, घटनाएँ! पहली घटना तब घटती थी जब अचानक एक सुबह नींद से निकलकर मैं आँगन में खड़ा होता और वह मुझे सर्वांग फूलों से - गुलाबी फूलों से लदा - दीखता। हर शाख फूलों से लदी - जैसे फूलों से ही बनी हो। डालियाँ तो कहीं दिखती ही नहीं - हवा में, हवा से ही बने, हवा में टिके फूल। बसंत को मैंने इसी तरह पहचाना कि बसंत जब आता है तो सबसे पहले आड़ू के पेड़ पर आता है। उसे फूलों से लादकर ही तब इधर-उधर निगाह डालता है। मुझे याद है, महाशिवरात्रि के आसपास ही कहीं वह चमत्कार होता था। फिर धीरे-धीरे उस गुलाबी रंग के बीच हरा रंग भी झलकने लगता और एक दिन - होली के आसपास ही आता था वह दिन - एकाएक पूरा पेड़ हरा हो जाता। चमकीली असंख्य पत्तियाँ असंख्य हरी चिड़ियों-सी जाने कहाँ-कहाँ से आकर उस पर बैठ जातीं और तब अचानक वह पेड़ एक भरा-पूरा पक्षी-विहार बन जाता।

उसकी तीन-चार महीने की दिगंबर तपस्या का ऐसा वरदान! मुझे तपस्या और उससे निकलनेवाली सिद्धियों से जुड़ी पौराणिक कहानियाँ बिल्कुल सच्ची लगने लगतीं। सचमुच पौराणिक ही तो प्रतीत होता था वह मेरा दोस्त मुझे! पौराणिक और प्रत्यक्ष एक साथ! धीरे-धीरे पत्तियों के बीच छोटे-छोटे फल भी झाँकने लगते। वे बहुत दिन लेते पकने में। उन्हें कोई पकने दे, तब न? आड़ू के उन पक्के और कच्चे और अधपके फलों का स्वाद मैं अभी नहीं भूला - यही गनीमत है। भूल जाता तो बहुत बुरा लगता। वैसे वह पूरी तरह पका हुआ भी अपना हरापन नहीं छोड़ता। यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती थी। यहाँ जो आड़ू बिकने आते हैं, वे मुझे कतई अच्छे नहीं लगते। वे रंग बदलनेवाले आड़ू हैं और जरूरत से ज्यादा पके हुए। आड़ू फलों में सबसे नाजुक फल है। बहुत जल्दी सड़ जाता है।

आड़ू फलों में सबसे प्रिय फल था और आज भी है। यह बात दूसरी है कि अब वह मेरे लिए दुर्लभ है। आड़ू के पेड़ का स्मरण-आवाहन भी मेरे लिए उसकी सफलता का नहीं, उसकी सपुष्पता-सपत्रता का ही अनुभव बना हुआ है।

उसका दिगंबर रूप भी शायद इसीलिए मेरी आँखों में नहीं बसा - हालाँकि मुझे याद है, दीवाली के उल्लासपूर्ण उत्सव के बाद मुझे उन दिनों उस छुटपन में भी एक जो बड़ी अजीब-सी उदास घेर लिया करती थी, उसका कुछ-न-कुछ संबंध इस आसन्न पतझर से भी अवश्य था। घिरती साँझ के झुटपुटे में आँगन में अकेला खड़ा मैं उसे टकटकी बाँधकर देखता रहता। अपने सालाना इम्तहान की तैयारी में जुटाकर वह मुझसे कहीं दूर, अपने भीतर समाधिस्थ लगता और मेरी आँखों में पानी भर आता। वह मुझसे बोलना छोड़ देता। उसका भरा-पूरा शरीर एक काला कंकाल रह जाता - मुझसे देखा नहीं जाता। यह मेरा समवयस्क - मेरा साथी! क्या यह तपस्या करने की उम्र है? मैं 'कल्याण' के अंकों में तपस्यारथ मुनियों के चित्र देखता - उनके साथ अपने इस बाल तपस्वी का कोई साम्य मुझे नजर न आता। एक बार मुझे अच्छी तरह याद है - दधीच की कहानी पढ़ कर मैंने उसकी उपमा दधीच से दी, तो वह मुझसे नाराज हो गया। मुझे साफ जतला दिया उसने कि यह उपमा उसे पसंद नहीं है और उसे वह मुझी को लौटा रहा है। जाड़े की छुट्टियों में हम लोग घाम तापने तराई भावर चले जाया करते थे। वहाँ से लौटकर जब मैं आया तो वह साक्षात कामदेव का धनुष बना लहरा रहा था। हाँ, उसा साल वह कुछ और जल्दी - वसंत पंचमी के आसपास ही - खिल आया था। मानो मेरी उपमा का ही मज़ाक उड़ाने को। सचमुच उस दिन मुझे लगा, वह मेरी उपमा पर खिल-खिला रहा है और मुझे देखकर उसकी हँसी रोके नहीं रुक पा रही। उसके रोम-रोम से पंखुड़ियाँ फूटी पड़ रही थी। उन्हीं दिनों 'कल्याण' का देवी विशेषांक निकला था और उसे पढ़ते हुए मुझे लगा, अपने दोस्त की इस नाराजगी का रहस्य सहसा मुझ पर प्रकट हो गया है। मैं दौड़ा-दौड़ा उसके पास गया और उसकी डाल से लिपट गया। बोला - 'तुम्हारी तपस्या, मेरे दोस्त, दधीच की नहीं, पार्वती की समस्या है।'

आड़ू का पेड़ प्रसन्न हो गया। खुशी से झूमते हुए उसने मुझ पर फूलों की वर्षा कर दी। उस बात को वर्षों बीत गए। मैंने वर्षों से उसे नहीं देखा था। पिछले वर्ष मैं जब अपने शहर गया तो सबसे पहले उसी को भेंटने गया। वहाँ उस मकान की जगह एक दूसरा मकान खड़ा था और उस मकान के पिछवाड़े वह मेरा पेड़ वहाँ नहीं था। गली भी चौड़ी हो गई थी। वह मोड़ भी मोड़ जैसा नहीं रह गया था। गली में खेलते बच्चों को शायद पता भी नहीं होगा कि जहाँ वे खेल रहे हैं, वहाँ एक छोटा-सा तिकोना बाग हुआ करता था, कि उस बाग के बीचोंबीच एक जादू का पेड़, एक कल्पवृक्ष उगा हुआ था, जो वसंत का अग्रदूत था, जो पतझर का भी अग्रदूत था, जो उन्हीं के जैसे एक बच्चे के लिए - हाँ, इसी गली के बच्चे के लिए - संसार का पहला आश्चर्य था। आश्चर्य जो, हजार-हजार फूलों में एक सुबह अचानक फूट पड़ता था, डाल-डाल पर दौड़ जाता था - फिर एक दिन अचानक रूपांतरित हो जाता था। एक दूसरे आश्चर्य में बदल जाता था...। 'रूखी री यह डाल वसन वासंती लेगी... स्मर-हर को वरेगी...'

मैं देवी भागवत को याद करता हूँ। कालिदास को याद करता हूँ। निराला को याद करता हूँ... और बसंत पंचमी या शिवरात्रि के आसपास एक सुबह अचानक घट जानेवाले उस चमत्कार को स्मरण करता हूँ और यह सब उसके कारण स्मरण करता हूँ जो कभी था और अब नहीं है। पर क्या सचमुच? नहीं! मैं तुझे नहीं भूला हूँ - ओ रंगों के जादूगर! मेरे बालपन के विस्मय! मुझे दुख है तो केवल इसी बात का कि तुझे खोजने मैं वहाँ गया जहाँ तू नहीं हो सकता था।

कन्या महाविद्यालय का इकलौता पुरुष प्राध्यापक अपनी शिष्याओं की विचित्र भेंट से पहले तो खूब तिलमिलाया - फिर विचार-मग्न हो गया फिर जोरों से खिलखिला पड़ा...

एक पेड़ हूँ

सर्द हवाओं से घिरा हूँ

बाहर से सूखा

पर भीतर से हरा हूँ

क्या सचमुच?

शीर्ष पर जाएँ